काश, इंसुलिन मुंह से ले सकते

के. गौतमराजन और गिरिराज कुलकर्णी

इंजेक्शन के ज़रिए इंसुलिन लेने की विभिन्न दिक्कतों के चलते इस मामले में काफी अनुसंधान हुआ है कि क्या इसका कोई विकल्प हो सकता है। इंसुलिन के शरीर में अवशोषण को सुगम बनाने हेतु मानव शरीर के सारे सम्भव छिद्रों पर ध्यान दिया गया है।

1921 में बैंटिंग और बेस्ट द्वारा इंसुलिन की खोज से पहले यदि किसी व्यक्ति को, खासकर युवावस्था में मधुमेह (डायबिटीज़) हो जाता, तो यह लगभग मौत का फरमान होता था। खोज होने के बाद भी लगभग एक दशक तक तो इंसुलिन के एक अशुद्ध अम्लीय रूप का ही उपयोग होता रहा। 1934 में रवे बनाने की एक नई विधि का आविष्कार होने के बाद इंसुलिन के रवे बनाना सम्भव हुआ। इससे अधिक शुद्ध इंसुलिन प्राप्त होने लगा। इसका शारीरिक असर बेहतर होता है। इसके अलावा बार-बार रवे बनाकर शुद्ध करने पर प्राप्त इंसुलिन से मरीज़ों को एलर्जी भी कम होती है।

1960 के दशक तक यह माना जाता था कि रवे बनाकर तैयार किया गया इंसुलिन अत्यंत शुद्ध है। किन्तु डिस्क इलेक्ट्रोफोरेसिस व जेल फिल्टरेशन जैसी पृथक्करण की तकनीकें विकसित होने के बाद पता चला कि इस अत्यंत शुद्ध इंसुलिन में कई तरह के प्रोटीन की अशुद्धियां हैं। सत्तर के दशक में क्रोमेटोग्राफी नामक तकनीक के उपयोग से प्राप्त इंसुलिन में 0.5 फीसदी ही अशुद्धियां रह जाती थीं। इससे एलर्जी और इंसुलिन प्रतिरोध जैसी कई समस्याएं दूर हो गईं। इंसुलिन ने मधुमेह के मरीज़ों को निश्चित तौर पर काफी राहत पहुंचाई है हालांकि रोज़ाना इंजेक्शन लेने की तकलीफ ज़रूर उठाना पड़ती है।

इंसुलिन इंजेक्शन की दिक्कतें

इंसुलिन के सेवन का सबसे आम तरीका इसे इंजेक्शन के ज़रिए चमड़ी के नीचे पहुंचाना है। मगर इस तरीके में कई दिक्कतें हैं। जैसे इंजेक्शन लगाने की जगह पर तकलीफ, बार-बार इंजेक्शन लगाने में असुविधा, कभी-कभी ज़्यादा खुराक ले लेने पर तकलीफ वगैरह। जिन जगहों पर बार-बार इंजेक्शन लिए जाते हैं वहां दर्द, खुजली और एलर्जी जैसे लक्षण बहुत उभरते हैं। इन जगहों पर लगातार इंसुलिन पहुंचने के कारण एक तकलीफ पैदा होती है जिसे लिपोडिस्ट्रॉफी कहते हैं। इसमें उस स्थान के वसा ऊतकों में विकृति उत्पन्न हो जाती है। यह चमड़ी में अनियमित गड्ढों के रूप में नज़र आती है। ऐसी जगह से इंसुलिन के अवशोषण में दिक्कत होती है और पर्याप्त असर के लिए ज़्यादा मात्रा में इंसुलिन लेना पड़ता है। मगर इंसुलिन की ज़्यादा खुराक लेने पर अन्य प्रतिकूल असर होते हैं।

कुल मिलाकर इंजेक्शन के ज़रिए इंसुलिन लेने की विभिन्न दिक्कतों के चलते इस मामले में काफी अनुसंधान हुआ है कि क्या इसका कोई विकल्प हो सकता है। इंसुलिन के शरीर में अवशोषण को सुगम बनाने हेतु मानव शरीर के सारे सम्भव छिद्रों पर ध्यान दिया गया है। इनमें से मुंह व नाक के रास्तों में कुछ सम्भावना नज़र आई है। यहां हम बात करेंगे कि मुंह से इंसुलिन सेवन की क्या समस्याएं और क्या सम्भावनाएं हैं।

मुंह से इंसुलिन के नुस्खे

मुंह से दवाई लें तो वह पाचन तंत्र में पहुंचती है। आप जितनी दवा खाते हैं उसमें से एक अंश ही वास्तव में शरीर में अवशोषित होता है। इसे उस दवाई की जैव-उपलब्धता कहते हैं। अधिकांश प्रोटीन व पेप्टाइड्स की

जैव उपलब्धता 1 प्रतिशत से कम होती है। इसका एक कारण तो यह है कि वैसे ही आंतों में से दवाइयों का अवशोषण कम होता है। दूसरी बात यह है कि पाचन तंत्र में पेप्सिन जैसे एन्ज़ाइम होते हैं जो प्रोटीन को पचा डालते हैं। इसके अलावा जो प्रोटीन या पेप्टाइड साबुत अवशोषित हो जाएं, वे भी प्रथम चयापचय के लिए लीवर में पहुंचते हैं। हम जो भी भोजन या दवाइयां खाते हैं उनमें थोड़े बहुत विषैले पदार्थ होते हैं। इसलिए रक्त संचार में पहुंचने से पहले सारे अवशोषित भोजन व दवाइयों को लीवर में से गुज़रना होता है जहां विष को निष्क्रिय करने की प्रक्रिया होती है - इसे प्रथम चयापचय या फर्स्टपास मेटाबोलिज़्म कहते हैं। इस प्रक्रिया में दवाइयों की अधिकांश मात्रा का विघटन हो जाता है। इसकी वजह से दवाई की जैव-उपलब्धता और कम हो जाती है; असर भी उसी अनुपात में कम होता है।

एक तो वैसे ही आंतों में से दवाइयों का अवशोषण कम होता है। दूसरा पाचन तंत्र में पेप्सिन जैसे एन्ज़ाइम होते हैं जो प्रोटीन्स को पचा डालते हैं। जो प्रोटीन साबुत अवशोषित हो जाएं उनको लीवर में से गुज़रना होता है जहां विष को निष्क्रिय करने की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में दवाइयों की अधिकांश मात्रा का विघटन हो जाता है। इन वजहों से दवाई की जैव-उपलब्धता कम हो जाती है; असर भी उसी अनुपात में कम होता है।

जब से चिकित्सा में इंसुलिन का प्रवेश हुआ है तब से ही इस बात में सबकी रुचि रही है कि किसी तरह मुंह से इसे खाया जा सके। ऐसे जीर्ण रोगों के मामले में दवाइयां लम्बे समय तक लेनी होती है। तब मुंह का रास्ता सबसे सुविधाजनक व स्वीकार्य होता है। किन्तु उपरोक्त कारणों से, इस रास्ते से इंसुलिन का सेवन कारगर नहीं हो पाता।

इस संदर्भ में कई बातों पर ध्यान देना होगा। एक तो आंत के अलग-अलग हिस्सों में प्रोटीन और पेप्टाइड का अवशोषण एक-सा नहीं होता। आंतों की संरचना अलग-अलग हिस्से में बदलती रहती है। दूसरी बात यह है कि प्रोटीन के विघटन के लिए ज़िम्मेदार एंज़ाइमों की सक्रियता छोटी आंत की शुरुआत से लेकर बड़ी आंत तक लगातार कम होती जाती है। इसका मतलब यह होगा कि छोटी आंत में इंसुलिन पहुंचाने की कोई उपयुक्त जगह हो सकती है। यदि इंसुलिन को उस जगह तक सुरक्षित पहुंचाया जा सके तो इंसुलिन पेट व छोटी आंत के पाचक एंज़ाइमों की क्रिया से बच जाएगा।

पिछले तीन दशकों में इंसुलिन को मुंह से शरीर में पहुंचाने को लेकर तमाम शोधपत्र प्रकाशित हुए हैं। इस संदर्भ में कुछ ताज़ा प्रयास निम्नानुसार हैं -

1. एंज़ाइम से रक्षा करने वाले पदार्थों का उपयोग
2. अवशोषण बढ़ाने वाले पदार्थों का उपयोग
3. इंसुलिन में रासायनिक परिवर्तन करके उसकी स्थिरता में वृद्धि
4. इंसुलिन को आंतों के अस्तर से चिपकने में मदद करने वाले पदार्थों का उपयोग
5. माइक्रोस्फीयर या नैनोपार्टिकल जैसे वाहक तंत्रों का उपयोग

एंज़ाइम अवरोधक प्रोटीन दवाइयों को पाचक एंज़ाइम्स के असर से बचाते हैं। यदि इंसुलिन को माइक्रोस्फीयर के रूप में दिया जाए और साथ में एंज़ाइम अवरोधक एप्रोटिनिन दिया जाए तो इंसुलिन का अवशोषण बढ़ जाता है। यह अब तक आज़माए गए तरीकों में सबसे कारगर पाया गया है।

अवशोषणवर्धक पदार्थ आंतों में प्रोटीन औषधि के अवशोषण को बढ़ाते हैं। अवशोषणवर्धक पदार्थों में सतह-सक्रिय पदार्थ (सर्फेक्टेंट्स), वसा अम्ल, पित्त लवण और साइट्रेट के अलावा इ.डी.टी.ए. जैसे रसायन भी हैं।

एंज़ाइम अवरोधक और अवशोषणवर्धक के मिले-जुले उपयोग से इंसुलिन की जैव उपलब्धता में काफी वृद्धि हो जाती है।

प्रोटीन की रासायनिक संरचना में परिवर्तन भी उनकी स्थिरता बढ़ाने का एक तरीका है। रासायनिक संरचना में इस ढंग के परिवर्तन किए जाते हैं कि वह अणु एंज़ाइम

के असर से बच जाए। इस तरह संरचना परिवर्तन के ज़रिए अवशोषण भी बढ़ाया जा सकता है। मगर यह तरीका पेप्टाइड के संदर्भ में ही ज़्यादा कारगर रहा है। प्रोटीन की रचना काफी पेचीदा होती है और उसमें इस तरह के परिवर्तन मुश्किल होते हैं। मगर इंसुलिन का डाई एसिटाइल उत्पाद अपना असर बरकरार रखता है और इसका अवशोषण भी बेहतर होता है।

एक दुखद बात यह है कि उपरोक्त सारे तरीकों से, सारी सावधानियों के बावजूद इंसुलिन का अवशोषण 0.5 प्रतिशत से कम रहा है। सारे प्रयासों के बावजूद इंसुलिन को मुंह के ज़रिए शरीर में पहुंचाना अभी सम्भव नहीं हुआ है। इसके लिए विभिन्न एंज़ाइमों को पार करना होगा तथा अवशोषण की बाधाओं को दूर करना होगा।

दवाई को शरीर में पहुंचाने का एक तरीका यह भी होता है कि आंतों में वह दवा जाकर चिपकी रहती है। इस तरह दवा के अवशोषण के लिए उपलब्ध समय बढ़ जाता है। इस तरह से दी गई दवा का एक फायदा यह भी होता है कि दवा को आंतों में भरे भोजन वगैरह में से होकर आंत की दीवार तक नहीं पहुंचना पड़ता। इस वजह से भी अवशोषण आसान हो जाता है। फिर एक फायदा यह भी है कि दवा में चिपकने वाला गुण इस तरह का हो सकता है कि वह आंत के किसी खास हिस्से में ही चिपके। इंसुलिन के बारे में बताया गया है कि पोलीकार्बोफिल और काइटोसैन जैसे पॉलीमर्स उसका अवशोषण बढ़ाते हैं।

नैनोपार्टिकल्स, माइक्रोस्फीयर, लिपोसोम्स वगैरह की मदद से भी आंतों में प्रोटीनों का अवशोषण बढ़ाया जा सकता है। ऐसे विभिन्न वाहक तंत्रों की मदद से चूहों में इंसुलिन का अवशोषण बढ़ाने में मदद मिली है।

1980 के दशक में औषधि वाहक तंत्र लिपोसोम्स का विकास हुआ था। तब से मुंह से इंसुलिन के मामले में एक बार फिर रुचि जागृत हुई थी। पिछले वर्षों में कई शोधकर्ताओं ने लिपोसोम्स वाहक तंत्र का उपयोग करने के प्रयास किए हैं। इसमें एक प्रयास तो यह होता है कि इंसुलिन को पाचक एंज़ाइमों के असर से बचाया जा सके। दूसरा मकसद यह होता है कि छोटी आंत में इंसुलिन का अवशोषण बढ़ जाए। इसी प्रकार से इंसुलिन युक्त सूक्ष्म कणों पर भी प्रयोग हुए हैं।

सीमाएं

एक दुखद बात यह है कि उपरोक्त सारे तरीकों से, सारी सावधानियों के बावजूद इंसुलिन का अवशोषण 0.5 प्रतिशत से कम रहा है। इंसानों पर किए गए परीक्षणों से यह भी पता चला है कि इतने कम अवशोषण को ध्यान में रखते हुए जब इंसुलिन की भारी खुराक दी जाती है तो इसके असर में बहुत विविधता होती है। यानी खुराक की कोई एक मात्रा निर्धारित करना भी सम्भव नहीं है। मसलन एप्रोटिनिन युक्त इंसुलिन के असर में एकरूपता नहीं होती। जहां तक अवशोषण वर्धकों का सवाल है, तो समस्या यह है कि ये एक ही दवा के लिए विशिष्ट नहीं होते। लंबे समय तक इनके उपयोग से विषाक्तता की समस्या पैदा हो सकती है। इनमें से कुछ पदार्थ आंतों पर प्रतिकूल असर भी डालते हैं। रासायनिक संरचना में परिवर्तनों के असर भी सदा लाभदायक नहीं होते।

कहने का मतलब यह है कि सारे प्रयासों के बावजूद इंसुलिन को मुंह के ज़रिए शरीर में पहुंचाना अभी सम्भव नहीं हुआ है। इसके लिए विभिन्न एंज़ाइमों को पार करना होगा तथा अवशोषण की बाधाओं को दूर करना होगा। हाल-फिलहाल तो यह सम्भव नहीं लगता। ***(स्रोत फीचर्स)***

पहली दूरबीन

यह तो पता नहीं कि दो लेंसों के तालमेल से दूर की चीज़ों को करीब से देखने का ख्याल सबसे पहले किसे आया। लेकिन कहा जाता है कि दूरबीन संयोग से बनी - एक चश्मासाज़ के हाथों। नाम था हैंस लिपरशे। लिपरशे समझ गए कि दूरबीन है बहुत काम की चीज़। उन्होंने इसका पेटेंट भी कराना चाहा। मगर तब तक कई लोग दूरबीनें बनाने लगे थे।

गैलिलियो की दूरबीन

1609 में टेलिस्कोप बनने की बात गैलिलियो तक पहुंची। और वे अपनी दूरबीन को रूप देने में लग गए। यहां दिया चित्र उनकी पहली दूरबीनों में से एक की अनुकृति का है। इसमें दो लेंस हैं - उत्तल ऑब्जेक्टिव लेंस और एक छोटा अवतल आइपीस का लेंस। दूरबीनों में आम तौर पर आइपीस लेंस उत्तल होता है। गैलिलियो की प्रारंभिक दूरबीन चीज़ों को 30 गुना तक आवर्धित करती थी। इससे वे चांद, तारे और ग्रह देखा-दिखाया करते थे। उन्होंने बृहस्पति के 4 चांद भी इसी से देखे। उन्होंने यह भी देखा कि आकाशगंगा लाखों तारों से मिलकर बनी है और केवल आंखों से इन्हें देखा नहीं जा सकता।

गैलीलियो का चांद

यह खूबसूरत स्केच गैलीलियो की किताब सिडिरियस ननसियस में छपा था। गैलीलियो ने अपनी दूरबीन से जैसा चांद देखा वैसा ही उबड़-खाबड़ सतह वाला चांद यहां बना है। इससे पहले माना जाता था कि चांद की सतह शीशे जैसी चिकनी है।

एक्रोमैटिक लेंस की खोज से पहले बड़े लेंसों के साथ एक बड़ी समस्या थी कि उनमें प्रकाश के रंग अलग-अलग हो जाते थे। दो अलग-अलग पदार्थों के समायोजन से एक्रोमेटिक लेंस बने। उससे पहले इस समस्याओं से निपटने के लिए पारवर्तक दूरबीन बनी।

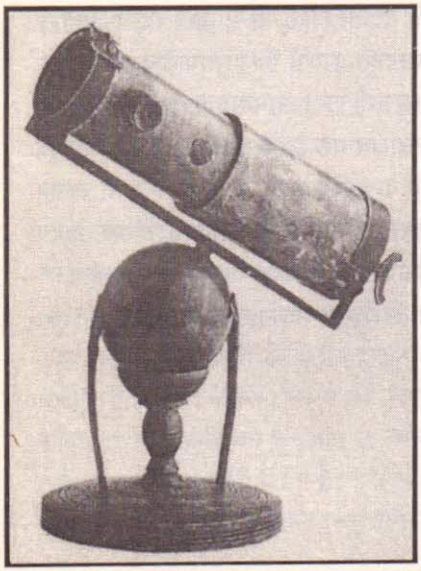

परावर्तन दूरबीन

1668 में न्यूटन ने एक परावर्तक दूरबीन बनाई। लेंस की जगह इसमें दर्पण का इस्तेमाल किया गया था। इसमें अन्दर आने वाली रोशनी को एक बड़े घुमावदार दर्पण पर इकट्ठा किया जाता है और फिर एक या दो छोटे दर्पणों से उसे प्रेक्षक की आंख पर परावर्तित किया जाता है। न्यूटन के परावर्तक में वस्तु को दूरबीन के किनारे से देखा जाता था। चूंकि दर्पण रंग नहीं बिखेरते हैं इसलिए इनमें प्रतिबिम्ब काफी साफ होता है। हालांकि न्यूटन की दूरबीन के नतीजे कुछ खास अच्छे न रहे लेकिन इससे यह सिद्ध हो गया कि दर्पण से भी आवर्धन हो सकता है।

ल्यूवेनहूक का सूक्ष्मदर्शी

एण्टनी फान ल्यूवेनहूक (1632-1723) का सूक्ष्मदर्शी धातु का बना एक छोटा सा उपकरण था। इसमें धातु की 2 चपटी प्लेटों के बीच लेंस को फिक्स किया गया था। इस लेंस के ऊपर एक सुई की नोक होती थी जिस पर देखी जाने वाली चीज़ को लगा दिया जाता था। एक स्क्रू की मदद से इस सुई को ऊपर नीचे किया जासकता था। इससे 'फोकस' करते थे। ल्यूवेनहॉक ने विभिन्न डिज़ाइन वाले कई सारे सूक्ष्मदर्शी बनाए थे। उनकी आवर्धन क्षमता 70 से 250 तक थी।

और ऐसे दिखते थे ल्यूवेनहूक

रॉबर्ट हुक का सूक्ष्मदर्शी

रॉबर्ट हुक (1635-1703) ने एक से अधिक लेंस वाले सूक्ष्मदर्शी बनाए और इस्तेमाल किए। हुक का यह सूक्ष्मदर्शी लकड़ी और बारीक चमड़े से ढके पेस्टबोर्ड से बना था। फोकस करने के लिए सूक्ष्मदर्शी को ऊपर-नीचे किया जाता था। वैसे तो सूरज की रोशनी का इस्तेमाल होता था मगर रोशनी न होती तो तेल का लैम्प काम आता था। हालांकि हुक का सूक्ष्मदर्शी ल्यूवेनहॉक के सूक्ष्मदर्शी से बड़ा और ज़्यादा जटिल था, लेकिन साफ छवि न बनती। जब प्रकाश साधारण लेंस को पार करता है तो उसका हरेक रंग अलग-अलग कोण पर मुड़ता है। इस वजह से लेंस के किनारे पर साफ छवि नहीं बन पाती।